

देव-शास्त्र-गुरु पूजन

(श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कृत)

केवल-रवि-किरणों से जिसका, सम्पूर्ण प्रकाशित है अन्तर ।
उस श्री जिन-वाणी में होता, तत्त्वों का सुन्दरतम दर्शन ॥
सद्दर्शन-बोध-चरण-पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण ।
उन देव परम-आगम गुरु को, शत-शत वन्दन, शत-शत वन्दन ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुसमूह! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुसमूह! अत्र तिष्ठ, तिष्ठ ठः ठः ।

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुसमूह! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

इन्द्रिय के भोग मधुर विष-सम, लावण्यमयी कंचन काया ।
यह सब कुछ जड़ की क्रीड़ा है, मैं अबतक जान नहीं पाया ॥
मैं भूल स्वयं निज वैभव को, पर-ममता में अटकाया हूँ ।
अब निर्मल सम्यक्-नीर लिये, मिथ्यामल धोने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

जड़-चेतन की सब परिणति प्रभु! अपने-अपने में होती है ।
अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है ॥
प्रतिकूल संयोगों में क्रोधित, होकर संसार बढ़ाया है ।
सन्तप्त हृदय प्रभु! चन्दन सम, शीतलता पाने आया है ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यः संसारतापविनाशनाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा ।

उज्ज्वल हूँ कुन्द-धवल हूँ प्रभु! पर से न लगा हूँ किञ्चित् भी ।
फिर भी अनुकूल लगें, उन पर, करता अभिमान निरन्तर ही ॥
जड़ पर झुक-झुक जाता चेतन, की मार्दव की खण्डित काया ।
निज शाश्वत अक्षय-निधि पाने, अब दास चरण-रज में आया ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ।

यह पुष्प सुकोमल कितना है, तन में माया कुछ शेष नहीं ।
निज अन्तर का प्रभु! भेद कहूँ, उसमें ऋजुता का लेश नहीं ॥
चिंतन कुछ फिर संभाषण कुछ, किरिया कुछ की कुछ होती है ।
स्थिरता निज में प्रभु पाऊँ जो, अन्तर-कालुष धोती है ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यः कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु! भूख न मेरी शान्त हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही ॥
युग-युग से इच्छासागर में, प्रभु! गोते खाता आया हूँ।
चरणों में व्यंजन अर्पित कर, अनुपम रस पीने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यः क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

मेरे चैतन्य सदन में प्रभु! चिर व्याप्त भयंकर अँधियारा।
श्रुत-दीप बुझा हे करुणानिधि! बीती नहीं कष्टों की कारा ॥*
अत एव प्रभो! यह ज्ञान-प्रतीक, समर्पित करने आया हूँ।
तेरी अन्तर लौ से निज अन्तर-दीप जलाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।

जड़ कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्रान्ति रही मेरी।
मैं रागी-द्वेषी हो लेता, जब परिणति होती जड़ केरी ॥
यों भाव-करम या भाव-मरण, सदियों से करता आया हूँ।
निज अनुपम गंध-अनल से प्रभु, पर-गंध जलाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

जग में जिसको निज कहता मैं, वह छोड़ मुझे चल देता है।
मैं आकुल-व्याकुल हो लेता, व्याकुल का फल व्याकुलता है ॥
मैं शान्त निराकुल चेतन हूँ, है मुक्ति-रमा सहचर मेरी।
यह मोह तड़क कर टूट पड़े, प्रभु! सार्थक फल पूजा तेरी ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

क्षण भर निज-रस को पी चेतन, मिथ्या-मल को धो देता है।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनन्द-अमृत पीता है ॥
अनुपम सुख तब विलसित होता, केवल-रवि जगमग करता है।
दर्शन बल पूर्ण प्रकट होता, यह ही अरहन्त अवस्था है ॥
यह अर्घ्य समर्पण करके प्रभु! निज गुण का अर्घ्य बनाऊँगा।
और निश्चित तेरे सदृश प्रभु! अरहन्त अवस्था पाऊँगा ॥

ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

* मूल छन्द में लेखक द्वारा परिवर्तन किया गया है। देखें पृष्ठ-३० पर

जयमाला

(ताटक)

भव वन में जी भर घूम चुका, कण-कण को जी भर-भर देखा ।
मृग-सम मृग-तृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की रेखा ॥

(बारह भावना)

झूठे जग के सपने सारे, झूठीं मन की सब आशायें ।
तन-जीवन-यौवन अस्थिर है, क्षण-भंगुर पल में मुरझायें ॥
सम्राट महाबल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या?
अशरण मृत-काया में हर्षित, निज जीवन डाल सकेगा क्या?
संसार महादुखसागर के, प्रभु दुखमय सुख-आभासों में ।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी, कंचन-कामिनी प्रासादों में ॥
मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते ।
तन-धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते ॥
मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ ॥
निज में पर से अन्यत्व लिये, निज समरस पीनेवाला हूँ ।
जिसके शृंगारों में मेरा, यह महंगा जीवन घुल जाता ।
अत्यन्त अशुचि जड़-काया से, इस चेतन का कैसा नाता ॥
दिन-रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता ।
मानस, वाणी और काया से, आस्रव का द्वार खुला रहता ॥
शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल ।
शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल ॥
फिर तप की शोधक वह्नि जगे, कर्मों की कड़ियाँ टूट पड़ें ।
सर्वांग निजात्म प्रदेशों से, अमृत के निर्झर फूट पड़ें ॥
हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लोकान्त विराजे क्षण में जा ।
निज लोक हमारा वासा हो, शोकांत बने फिर हमको क्या ॥
जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो! दुर्नय-तम सत्वर टल जाये ।
बस ज्ञाता-द्रष्टा रह जाऊँ, मद-मत्सर-मोह विनश जाये ॥
चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी ।
जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहें जग के साथी ॥

(देव-स्तवन)

चरणों में आया हूँ प्रभुवर! शीतलता मुझको मिल जाये ।
मुझझाई ज्ञान-लता मेरी, निज अन्तर्बल से खिल जाये ।
सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जायेगी इच्छा-ज्वाला ।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानो पावक में घी डाला ॥
तेरे चरणों की पूजा से, इन्द्रिय सुख को ही अभिलाषा ।
अब तक न समझ ही पाया प्रभु! सच्चे सुख की भी परिभाषा ॥
तुम तो अविकारी हो प्रभुवर! जग में रहते जग से न्यारे ।
अत एव झुके तव चरणों में, जग के माणिक-मोती सारे ॥

(शास्त्र-स्तवन)

स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं ।
उस पावन नौका पर लाखों, प्राणी भव-वारिधि तिरते हैं ॥

(गुरु-स्तवन)

हे गुरुवर! शाश्वत सुखदर्शक, यह नग्न स्वरूप तुम्हारा है ।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करनेवाला है ॥
जब जग विषयों में रच-पच कर, गाफिल निद्रा में सोता हो ।
अथवा वह शिव के निष्कंटक, पथ में विषकंटक बोता हो ॥
हो अर्द्ध-निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों ।
तब शान्त निराकुल मानस तुम, तत्त्वों का चिंतन करते हो ॥
करते तप शैल-नदी-तट पर, तरु-तल वर्षा की झड़ियों में ।
समता-रस-पान किया करते, सुख-दुःख दोनों की घड़ियों में ॥
अन्तर्ज्वाला हरती वाणी, मानो झड़ती हों फुलझड़ियाँ ।
भव-बन्धन तड़-तड़ टूट पड़े, खिल जायें अन्तर की कलियाँ ॥
तुम-सा दानी क्या कोई हो, जग को दे दीं जग की निधियाँ ।
दिन-रात लुटाया करते हो, सम-शम की अविनश्वर मणियाँ ॥
ॐ ह्रीं श्री देव-शास्त्र-गुरुभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।
हे निर्मल देव! तुम्हें प्रमाण, हे ज्ञान-दीप आगम! प्रणाम ।
हे शान्ति-त्याग के मूर्तिमान, शिव-पथ-पंथी गुरुवर! प्रणाम ।

(पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)